इकाई - II ऐतिहासिक परिस्थितियाँ एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

प्रश्न-(3) - हिन्दी साहित्य का आदिकाल : पृष्ठभूमि और प्रवृत्तियाँ' शीर्षक पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखें।

अथवा

देश की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का हिन्दी साहित्य के आदिकाल पर क्या प्रभाव पड़ा है?

अथवा

समाज की परिस्थितियों के अनुसार साहित्य सदा अपने रूप परिवर्तित करता रहता है। इस पर एक संक्षिप्त निबंध लिखें।

अथवा

'हिन्दी साहित्य का आदिकाल युगीन परिस्थितियों की उपज है'- इसके समर्थन में अपने विचार प्रस्तुत करें।

उत्तर - हिन्दी साहित्य का आदिकाल अपनी काल सीमा तथा नामकरण की समस्या के कारण विवादों के घेरे में घिरा हुआ है। हिन्दी साहित्य का प्रारंभ हिन्दी भाषा के प्रारंभ से जुड़ा हुआ है। किसी भी जनभाषा में सदा एकरूपता नहीं बनी रह सकती। यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो आदिकालीन हिन्दी साहित्य में भाव और भाषा शैली की दृष्टि से जो विविधता ही दीख पड़ती है, उसका मूल कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ ही हैं। इस प्रकार यहाँ तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का चित्रण आवश्यक है क्योंकि इन्हीं परिस्थितियों के मध्य साहित्य का प्रारंभिक निर्माण हुआ है।

(1) राजनीतिक परिस्थितियाँ - हिन्दी साहित्य के इतिहास का यह युग राजनीतिक दृष्टि से अव्यवस्था, विशृंखलता, गृह-कलह और पराजय का युग कहा जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गृह कलह और पराजय के कारण इस समय उत्तरी भारत अत्यधिक अशांतिपूर्ण था। साथ ही विदेशी आक्रमणों और राजाओं की पारस्परिक विद्वेष भावना के कारण देश खोखला सा होता जा रहा था। इतिहास में यह काल राजनीतिक दृष्टि से वर्धन साम्राज्य के पतन से

प्रारंभ होता है और यह हिन्दू सत्ता के क्षय तथा इस्लाम के उदय तक की करुण कहानी का काल है। सम्राट हर्ष वर्द्धन (606-643) ने यद्यपि दुर्दैव के साथ उन आक्रमणों का सामना किया, किन्तु वह उस प्रबल आँधी को रोक नहीं सका और उसकी मृत्यु के पश्चात तो भारत की संगठित राज्य शक्ति पूरी तरह छिन्न भिन्न हो गई। अनेक राजपूत राज्य अस्तित्व में आये किन्तु वे भी इस्लाम का प्रतिरोध करने में असमर्थ रहे और वे सब इस्लाम साम्राज्य की सीमाओं में सिमटने को विवश हो गये। महमूद गजनवी के आक्रमण ने जहाँ एक तरफ भारत की राजपूताना शक्ति को छिन्न-भिन्न कर भारत की सारी जनता को कमजोर करने की कोशिश की वहीं अन्ततः चहुँकर चौहान की मृत्यु और पतन से भी जब मुहम्मद गोरी की पिपासा शान्त न हुई तब उसने धीरे-धीरे कन्नौज और कालिंजर पर भी अधिकार स्थापित कर लिया। इस प्रकार दिल्ली में तुर्क सल्तनत की स्थापना हो गई और शनैः-शनैः उसका विस्तार होने लगा तथा प्रबल विरोध के बावजूद मुस्लिम पताका प्रमुखः सम्पूर्ण उत्तरी भारत में धीरे-धीरे फहराने लगी। इस प्रकार आठवीं शती ईस्वी से चौदहवीं ईस्वी तक हिन्दू साम्राज्य का पूर्ण पराभव हो गया और इस्लाम साम्राज्य का सूर्योदय हुआ।

इन राजनीतिक परिस्थितियों का सर्वेक्षण करने के पश्चात हम यहाँ यह कह सकते हैं कि हमारे देश में राष्ट्रीयता की भावना संकुचित ही थी और देश खंड-खंड राज्यों में विभाजित था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारे यहाँ अनेक वीर शासक थे, पर वे विदेशी आक्रमण के समय अपने पड़ोसी राज्य की सहायता करने की ओर ध्यान न देते थे क्योंकि वे तो अपने छोटे से राज्य को ही राष्ट्र समझते थे। उन्होंने व्यापक रूप से सम्पूर्ण भारत को राष्ट्र नहीं समझा अतः व्यक्तिक वीरता के होते हुए भी वे पराजित हुए। जनता में भी राजनीतिक चेतना का ह्रास हो गया था और वह आन्तः कलह,

ईर्ष्या व द्वेष से भीषण रूप में ग्रस्त हो चुकी थी। अतः राजनीतिक दृष्टि से यह काल भारतीय इतिहास का पतन काल ही समझा जायेगा।

(ii) <u>धार्मिक परिस्थितियाँ</u> — ईसा की दूसरी शताब्दी तक भारत में वैदिक यज्ञ, मूर्ति पूजा, जैन और बौद्ध उपासना पद्धतियाँ एक साथ सहिष्णु बनकर प्रचलित थीं, जिसके कारण धार्मिक वातावरण शान्त था। इस समय वैदिक व पौराणिक धर्म के विविध रूपों के साथ-साथ बौद्ध धर्म व जैन धर्म भी अपने वास्तविक आदर्शों से दूर हटते जा रहे थे, अतः धर्म में बाह्याडंबरों का ही समावेश अधिक मात्रा में हो रहा था। शंकराचार्य के प्रबल प्रहारों से बौद्ध धर्म को अत्यधिक आघात पहुँचा और वह अब जंत्र, मंत्र-तंत्र की सिद्धियों के चक्र में ही पड़कर रह गया था। उसने महायान, हीनयान, वज्रयान, सहजयान व मन्त्रयान आदि कई रूप धारण किये। चीनी यात्री ह्वेनसांग ने सन् 642 ई० में जब भारत की यात्रा की थी, तब उसे वहाँ बौद्ध धर्म के पतन के लक्षण दिखाई दिये थे और वह स्वयं हीनयान का ही समर्थक था। इस समय वैष्णव मत अधिक प्रतिष्ठित नहीं था और जैन मत तथा शैव मत परस्पर आगे बढ़ने की होड़ लगा रहे थे।

इतना अवश्य है कि इस समय भक्ति की धारा दक्षिण में विकसित हो रही थी और तमिलनाडु के आलवार वैष्णव भक्त और नायनार शैव भक्त लोकहितकारी रूप लेकर सामने आये। जैनियों की भाँति नैष्ठिक हिन्दुओं में आचार-विचार, व्रत पूजादि की भी वृद्धि हुई और एक ओर तो वाम-मार्ग की कटु आलोचना की जाने लगी तो दूसरी ओर वाममार्गियों ने वैष्णवों की पगड़ी उछालने में कोई कसर बाकी न रखी। इस प्रकार तत्कालीन धार्मिक वातावरण शनैः-शनैः दूषित होता जा रहा था और पुरोहितों की गर्हित भावना को प्रधानता मिल रही थी।

इसी काल में एक विदेशी धर्म "इस्लाम" का

भारत में प्रवेश हुआ। अशिक्षित जनता के सामने भारत के विभिन्न धर्माचार्य "अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग" अलाप रहे थे। बौद्ध संन्यासी योग चमत्कार दिखा रहे थे। वैदिक और पौराणिक मतों के समर्थक खण्डन-मण्डन की मूक-मूर्तियों में उलझे हुए थे। जैन मत पौराणिक आख्यानों को नये ढंग से गढ़ कर जनता पर प्रभाव जमा रहा था। वैष्णव की धार्मिक कथाएँ जैन कथाएँ बनती जा रही थीं। राम-कृष्ण के उपासक जो युद्ध और वीरता के पुजारी थे उन्हें भी जैन धर्म की दीक्षा लेते दिखाया जा रहा था। जैन आश्रमों में बौद्धों का वामाचार प्रविष्ट होने लगा था। कुल मिलाकर मूल धर्म के तत्व सभी मतों में लुप्त हो गये थे।

(iii) <u>सामाजिक परिस्थितियाँ</u> - जिस समय धर्म व राजनीति की दीन हीन अत्यंत सोचनीय दशा हो, उस समय उच्च सामाजिकता की विशेष आशा नहीं की जा सकती और भारतीय इतिहास का यह युग अशांति, युद्धों और धर्मविप्लव का इतिहास रहा। राजनैतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों ने सामाजिक संरचना तथा उसके मूल्यों को प्रभावित किया। जब धर्म और राजनीति की दृष्टि एकांगी हो जाती है, तब समाज में अनेक विकार पैदा हो जाते हैं। धर्म और राज्य ने जनता को वंचित कर दिया था। युद्धों के समय उन पर आक्रान्ताओं तथा स्वदेशी राजाओं के अत्याचार बढ़ जाते थे। ईश्वर की ओर बढ़ने पर भी जनता को भ्रम तथा असहयोग ही मिलता था। हिन्दी के आदिकाल के प्रारंभ से यानि आठवीं शती और उससे भी पूर्व भारतीय समाज वर्ण तथा कठोर जाति व्यवस्था के शिकंजे में कसता जा रहा था। उस समय व्यक्ति के गुण कर्म के स्थान पर उसकी जातीय तथा वर्ण सम्बन्धी श्रेष्ठता को ही उच्चता का एकमात्र मानदण्ड माना जाता था। हिन्दू समाज में नित नई जातियाँ

पनप रही थीं। उच्च वर्ण के लोग मानो भोग करने के लिए और निम्न जातियों तथा वर्ण के लोग श्रम करने के लिए ही पैदा होते थे। छुआछूत की संकीर्णता से समाज का मस्तिष्क विकृत एवं दूषित होता जा रहा था। हिन्दू समाज की पावन शक्ति प्रायः नष्ट हो चुकी थी। एक बार जो हिन्दू समाज से बहिष्कृत हो गया, वह पुनः अपने समाज में नहीं आ सकता था। धर्म की तरह समाज भी रूढ़ियों से ग्रस्त था। राजपूतों में वीरता और बलिदान की परंपरा का निर्वाह करने की होड़ थी। नारियों में भी आत्म बलिदान और शौर्य प्रदर्शन की भावना प्रबल थी। कन्याओं के विवाह पर उनका अपहरण होना या और विवाह के मांगलिक अवसर पर भी रक्तपात होना सहज घटनायें बन गई थीं। सामान्यतया नारी भोग्या मात्र बन कर क्रय-विक्रय और अपहरण की वस्तु बनकर रह गई थी। सती-प्रथा भी इस युग का भयंकर अभिशाप थी। इस सामाजिक अवस्था का चित्रण तत्कालीन हिन्दी साहित्य में देख पड़ता है।

(iv) <u>सांस्कृतिक परिस्थितियाँ</u> :- हिन्दी साहित्य के आदिकाल का प्रारंभ उस समय हुआ जब यहाँ भारतीय संस्कृति अपना चरम उत्कर्ष पार कर चुकी थी और आदिकाल की समाप्ति उस समय हुई जब मुस्लिम संस्कृति का भारत में डंका बजने लगा था। इस प्रकार आदिकाल हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति के परस्पर संक्रमण तथा उत्थान-पतन को व्यक्त करने वाला काल कहा जा सकता है। जब मुसलमानों की संस्कृति ने भारत में प्रवेश किया तब यहाँ विभिन्न जातियों विश्वासों और आचारों-विचारों में समन्वय का विकास हो चुका था। हर्षवर्द्धन के समय में ही हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति को राष्ट्रव्यापी आधार प्राप्त हो गया था जिससे छोटे-मोटे झगड़े शान्त हो गये थे और स्वाधीनता तथा राष्ट्रीयता के भाव सुदृढ़ होने लगे थे। सभी कलाओं में चित्रकला

संगीत, मूर्ति, स्थापत्य में राष्ट्रीय गौरव को अभिव्यक्ति मिलने लगी थी। स्थापत्य कला में मन्दिर निर्माण धार्मिक सद्भावना का द्योतक था। इसी काल में भुवनेश्वर खजुराहो, पुरी, सोमनाथपुर, वेल्लोर, कांची, तंजौर आदि स्थानों पर भव्य मंदिर बनाये गये। आबू का जैन मंदिर दिलवाड़ा शैली के स्थापत्य कला का अद्वितीय उदाहरण है, यह भी इसी काल में ग्यारहवीं शती में निर्मित हुआ। प्रत्येक हिन्दू का जीवन धर्म पर आधारित था। वह संगीत, नृत्य, मूर्तिकला, चित्रकला आदि में अपनी आस्था को अभिव्यक्त करता था। अरब इतिहासकार अलबेरुनी ने इस सम्बन्ध में लिखा है - "वे (हिन्दू) कला के अत्यन्त उच्च सोपान पर आरोहण कर चुके हैं। हमारे लोग (मुसलमान) जब उनके मन्दिर आदि को देखते हैं तो आश्चर्य चकित रह जाते हैं। वे न तो उनका वर्णन कर सकते हैं, न वैसा निर्माण ही कर सकते हैं।" महमूद गजनवी भी भारतीय संस्कृति पर मुग्ध था। यह विडम्बना ही थी कि विजय के उन्माद में आकर कला के उन अनेक केन्द्रों को ध्वस्त कर दिया। राजपूत राजाओं ने उन सांस्कृतिक केन्द्रों की रक्षा करने का प्रयास किया, किन्तु वे अपने राज्य और व्यक्तिगत गौरव को ही बचाने में अधिक व्यस्त रहे।

(४) साहित्यिक परिस्थितियाँ - यद्यपि यह युग पारस्परिक कलह एवं बाह्य संघर्षों का युग था पर साहित्य का विकास भी अपनी गति से हो रहा था। इस काल में साहित्य की तीन धाराएँ बह रही थीं। पहली धारा संस्कृत साहित्य की दूसरी प्राकृत-अपभ्रंश की और तीसरी हिन्दी भाषा में लिखे जाने वाले साहित्य की थी। संस्कृत साहित्य का निर्माण पूर्व गति से होता रहा और ज्योतिष, दर्शन और

स्मृति आदि विषयों पर टीका तथा उन टीकाओं पर टीकायें लिखी जाती थी। नवीं से ग्यारहवीं शती तक कन्नौज और कश्मीर संस्कृत साहित्य रचना के केन्द्र रहे। इसी काल में आनन्द-वर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोज देव, मम्मट, राजशेखर, विश्वनाथ, रुद्रभट्ट, श्री हर्ष तथा जयदेव आदि आचार्य नाटककार और कवि एवं गद्य लेखक हुए। शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, रामानुज आदि आचार्य भी इसी काल की देन हैं। इसी काल में जैनाचार्यों ने अपभ्रंश में संस्कृत के पुराणों को नया रूप दिया। इन जैनाचार्यों ने प्राकृत अपभ्रंश के साथ पुरानी हिन्दी को भी माध्यम बनाया। देश के पूर्वी सीमान्त पर सिद्धों ने अपभ्रंश के साथ लोक भाषा हिन्दी में भी रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इस काल का साहित्य राजाश्रय और लोकाश्रय में पला-फूला। राजाश्रय में संस्कृत साहित्य, धर्माश्रय में अपभ्रंश साहित्य और लोकाश्रय में हिन्दी साहित्य का विकास हुआ। संस्कृत कवि काव्य और शास्त्र के विनोद में मस्त थे तथा प्राकृत अपभ्रंश के कवि धर्म प्रचार में लगे थे। केवल हिन्दी ही इस काल की ऐसी भाषा थी जिसमें तत्कालीन सम्पूर्ण जीवन की झाँकी मिलती है। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की कविताओं और विचारों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि "इस काल की रचनाओं में हिन्दी की बुनियाद मिलती है, हिन्दी का बीज मिलता है। यहाँ हम हिन्दी की उस नींव की ईंट को देखते हैं, जो हिन्दी की भव्य इमारत की आधारशिला है।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य अपने आसपास के वातावरण से प्रेरणा ग्रहण करके आगे बढ़ता रहा है। उसकी गतिशीलता, क्रिया और प्रतिक्रिया उसके बहुविध परिवेश से प्रभावित होती है। "साहित्य समाज का दर्पण है" - इस सत्य की सार्थकता प्रत्येक युग में देखी जा सकती है। अतः आदिकालीन साहित्य का जो रूप और विस्तार तथा विशिष्ट दिशा दिखाई देती है, वह सब युगीन परिस्थितियों की ही प्रेरणा का फल है।



—x—

(प्र०-4) हिन्दी साहित्य के आदिकाल (वीरगाथा काल) की विशेषताएँ बताइए।

अथवा

वीरगाथा काल के साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का उल्लेख करें।

अथवा

वीरगाथा काल (आदिकाल) की वीरगाथाओं की सामान्य प्रवृत्तियों को लिखें।

अथवा

आदिकाल (वीरगाथाकालीन) हिन्दी साहित्य की उपलब्ध कृतियों का उल्लेख कर भाषा शैली की दृष्टि से उनका मूल्यांकन करें।

उत्तर - हिन्दी साहित्य के आरंभिक काल के नामकरण के संबंध में विचारक पृथक्-पृथक् मत व्यक्त करते हैं और इसका मूल कारण यह है कि तत्कालीन साहित्यिक सामग्री अब तक बहुत ही सीमित मात्रा में प्राप्त हुई है। इस काल को रासो काल, चारण काल, 'बीज-वपन काल', सिद्ध सामन्त युग, आदिकाल, अपभ्रंश काल आदि अनेक नामों से अभिहित किया गया। यह काल हिन्दी साहित्य का सबसे विवादित काल है पर फिर भी यह प्रारंभ काल होने की वजह से यह अत्यंत प्रभावशाली काल भी रहा है। हालाँकि सर्वप्रथम मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबन्धु विनोद' में इसे आदिकाल कहा था लेकिन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल में वीरगाथाओं की प्रधानता को ध्यान में रखकर इसे वीरगाथाकाल कहना अधिक उपयुक्त समझा।

आचार्य शुक्ल के इस विचारों से डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी सहमत नहीं हैं और उनका कहना है कि "यह नाम वर्तमान रुचि के आलोक में बहुत उचित नहीं प्रतीत होता। शुक्ल जी ने जिन रचनाओं को प्रमाणिक मानकर इस काल का नामकरण किया था, उनमें से अधिकांश संदिग्ध और अप्रमाणिक मानकर नकार दिये जाने योग्य हैं, फिर इधर अनेक अज्ञातपूर्ण कागों का पता लगा है जो पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं कि नामकरण के समय शुक्ल जी के सामने ये पुस्तकें नहीं थीं। यह सत्य है कि प्रत्येक काल की अपनी

कुछ अलग विशेषताएँ होती हैं जो उस अन्य काल से बिलकुल अलग स्वतंत्र काल की संज्ञा दिलाती है। इतना ही नहीं हर काल का साहित्य अपने तत्कालीन साहित्य एवं सामान्य जन-जीवन को प्रभावित करता है। युग विशेष की राजनैतिक धार्मिक एवं सामाजिक घटनाओं की सत्यता से पूरी तरह प्रभावित होती है। यह सत्य है कि साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। राजनैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक घटनाओं का बदलता परिवेश जन-जीवन और तत्युगीन साहित्य को भी प्रभावित करता है। यही कारण है कि हर युग में अलग अलग तरह के साहित्य प्राप्त होते हैं। परिवर्तित परिवेश और वातावरण, साहित्य और साहित्यकार को जीवित रखता है, उसकी जीवन शक्ति नवीन विचारधाराओं और प्रवृत्तियों को जन्म देती है। मनुष्य की जीवन धारा के सदृश उसकी विचारधारा भी अनन्तकालीन और दीर्घकालीन होती है। ये प्रवृत्तियाँ मरती नहीं है, जीवित रहती हैं। समय-समय पर ये प्रवृत्तियाँ क्षीण अथवा दीर्घ होती हैं इसलिए जब हम किसी साहित्य के इतिहास को पढ़ने बैठते हैं तो वस्तुतः उस जाति की सम्पूर्ण चिन्तनाशक्ति, अनुभूति, परंपरा और संवेदनशीलता का परिचय पाना चाहते हैं।

हिन्दी साहित्य का प्रारंभिक युग वीरगाथा काल की तत्युगीन प्रवृत्तियों का सजीव और जीवंत चित्र है। इस काल में वीर रसात्मक प्रवृत्ति के अतिरिक्त अन्य तरह की भी रचनायें की गई हैं किन्तु वीररसात्मक काव्य की प्रचुरता और प्रधानता रही है। प्रवृत्ति विशेष की प्रधानता के कारण ही इसे काल का नामकरण वीरगाथा काल ही हुआ है। यह काल वस्तुतः भारत के इतिहास में घोर राजनीतिक अशांति, संघर्ष और विप्लव का काल रहा है। संपूर्ण देश में एकात्मक भाव का पूर्णतः अभाव रहा है। पारस्परिक ईर्ष्या एवं द्वेष की प्रचण्ड घातक अग्नि से सम्पूर्ण राष्ट्र दग्ध और जर्जर प्रतीत होता है। समस्त उत्तरी भारत कई राज्यों में विभक्त हो गया। आपसी द्वेष से ग्रस्त राजे बाहरी आक्रमण का उत्तर देने में लड़खड़ाने लगता है। राजपूत राजाओं के डगमगाते पाँव

रणभूमि में बाहरी मुसलमानों के आक्रमण को नहीं रोक पाये। पड़ोसी राज्य भी अपने पड़ोसी राज्यों के प्रति उदासीन भाव ही रखते थे क्योंकि जब उन्हें अपने राष्ट्र से ही लगाव नहीं था तो भला अपने पड़ोसी राज्यों के प्रति प्रेम भाव भला कैसे रखते?

धर्म के क्षेत्र में भी यह काल घोर पराजय और चारित्रिक ह्रास का काल है। धार्मिक विश्रृंखलता कोलाहल और उथल-पुथल इस युग में अपनी पराकाष्ठा पर था। इस युग में समस्त उत्तर भारत में ब्राह्मण-धर्म की प्रधानता पायी जाती है किन्तु ये सभी अपने जीवन धर्म के उच्च आदर्शों से पतित होते नजर आते हैं। मुसलमान आक्रमणकारियों के लगातार बाहरी आक्रमणों के कारण हिन्दू जन-जीवन की शक्तियाँ विघटित होने लगी थीं। इस राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक उथल-पुथल और टूटते विश्वास के युग में अपेक्षाकृत बुद्धिश्रेष्ठ ब्राह्मण जन उप-राज्यों और टुकड़ों में बँटे सम्राटों और अपने आश्रयदाताओं की झूठी-सच्ची प्रशंसा कर अपना उदर पोषण करते नजर आते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी का आदिकालीन साहित्य तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों के चलते अनेक प्रकार की अराजक स्थिति से गुजर रहा था। अनेक तरह के अंतर्विरोधपरक विचार और भाव-प्रक्षेपण इस काल में हम पाते हैं। शृंगार-धारा और वीर धारा, कर्म और कर्मकांड, जाति-पाँति तथा धर्म-अवतार एवं इतिहास सब परस्पर टकराव की स्थिति में थे। पारस्परिक युद्ध तथा विदेशी अलगावी एवं आक्रमणकारियों के निरंतर आक्रमणों के फलस्वरूप तत्कालीन समाज में एक प्रकार की अराजकता और आतुरता की भावना घर कर गई थी। ऐसी स्थिति में कविगण युद्ध के अतिरिक्त और सोच ही क्या सकते थे? तत्कालीन कवि-कर्म का निरूपण करते हुए अपना दायित्व निभा रहे थे। इस संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने लिखा है - "उस समय तो जो चाहता

चारण किसी राजा के पराक्रम-विजय, शत्रु कन्या हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण आलाप करना था या रण क्षेत्रों में जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगें भरना था, वही सम्मान पात्र था।" फलतः कवि वीरता के भावों को अभिव्यक्ति देने में लगे रहते थे। जन-जन में युद्ध-विजय की भावना उत्पन्न करने का गीत गाते थे, तभी तो उस काल में वीर रसपूर्ण रचनाओं की ही संभावना अधिक हो गयी थी। ऐसे की स्थिति में वीरगाथाओं की ही रचना संभव भी थी।

इस प्रकार अनेक प्रसिद्ध आलोचकों एवं विद्वानों के आधार पर हम वीरगाथा काल अथवा आदिकाल की विभिन्न प्रवृत्तियों को निम्नलिखित तरीके से अभिव्यक्त कर सकते हैं:—

(1) प्रमुख सामग्रियों के संबंध में अप्रमाणिकता एवं संदिग्धता— वीरगाथा काल में प्रमुख रासो ग्रंथ एवं अपभ्रंश के कहने से ग्रंथ की प्रमाणिकता पर संदेह व्यक्त किया जाता रहा है। वीरगाथात्मक रासो-काव्यों की प्रमाणिकता संदेह के दायरे में है। इन कृतियों और रचनाकारों की प्रमाणिकता पर विद्वानों ने प्रश्न चिह्न लगा दिया है। हम्मीर रासो (शार्ङ्गधर कृत) को अपभ्रंश की रचनाओं में स्थान दिया जाता है। फिर भी पृथ्वीराज रासो, खुमान रासो, बीसलदेव रासो और परमाल रासो - चार प्रसिद्ध रासो ग्रन्थ हैं जिनमें वीरगाथाएँ प्रस्तुत की गई हैं। इन चारों रासो ग्रन्थों की भाषा शैली और विषय वस्तु की छान-बीन करने पर ज्ञात होता है कि इनमें कई शताब्दियों तक परिवर्तन-परिवर्द्धन किया जाता रहा है। ये रासो ग्रन्थ किसी एक कवि द्वारा रचित नहीं है, अपितु अनेक कवियों ने, अनेक पीढ़ियों में इन्हें पूरा किया

है। इनमें इतने अधिक परिवर्तन किये गये हैं कि सम्पूर्ण ग्रन्थ ही क्षेपक या अप्रमाणिक दिखाई देते हैं।

इनका रचना काल भी संदिग्ध है। खुमान-रासो में सोलहवीं शती तक की सामग्री का उपयोग किया गया है। परमाल रासो में तो अठारहवीं शती तक की भाषा का प्रयोग मिलता है और पृथ्वीराज रासो में इतनी अधिक मिलावट है कि स्वयं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उसे जाली और अप्रमाणिक करार दिया है। इनकी प्रमाणिकता को लेकर विद्वानों में मतैक्य हो गया और सभी ठोस तर्कों के आधार पर इसे अप्रमाणिक और प्रमाणिक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि रासो ग्रन्थों की प्रमाणिकता संदिग्ध है।

(२) सत्यता और ऐतिहासिकता का नितान्त अभाव – रासो ग्रंथों में जिन ऐतिहासिक महापुरुषों और घटनाओं का उल्लेख किया गया है, वह वर्णन इतिहास से मेल नहीं खाता है। इन काव्यों में जो सन ईस्वी, संवत या तिथियाँ दी गई हैं वे भी इतिहास में उपलब्ध तिथियों से भिन्न हैं। इतिहास के नामों का स्वेच्छापूर्वक अनर्गल प्रयोग किया गया है, इसलिए उनकी सच्चाई और ऐतिहासिकता विवाद के घेरे में आ खड़ी हुई है। ऐतिहासिक विषय को काव्य की विषय-वस्तु बनाने के लिए जिस सावधानी और विशिष्ट-दृष्टि की अपेक्षा होती है वह इन कवियों को प्राप्त नहीं थी। समस्त वृत्तान्त और विवरण अतिरंजनापूर्ण शैली में हैं। लोक स्वीकृत विश्वासों पर भी इन कवियों ने आघात किया है। अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा इतनी अतिरंजना पूर्ण की है कि ये अविश्वनीय और अलौकिक दिखाई देते हैं। कई स्थानों पर तो ये लौकिक आश्रयदाता राम, कृष्ण, अर्जुन और

मीमि से भी अधिक गुणवान तथा वीर रूप में चित्रित किये गये हैं। इतिहास को इन कवियों ने नगण्य और महत्वहीन समझा है।

(3) वीर और शृंगार रसों का अर्थ - इस काल के सभी रासो ग्रन्थों में वीरगाथाएँ वर्णित हैं जिनमें वीर रस के साथ-साथ शृंगार रस का भी पूर्ण विवरण है। वीर रस तो इस काल के कवियों का मुख्य प्रतिपाद्य और वर्ण्य था, किन्तु शृंगार के साहचर्य से उसका रूप और भी आकर्षक हो गया है। वातावरण भी वीर रस के ही अनुकूल था। चारों ओर युद्ध की विभीषिका थी। सर्वत्र युद्धोत्साह से सजे वीरों की टुकड़ियाँ करने में कविगण व्यस्त थे। राज्य प्राप्ति और विस्तार के लिये भी युद्ध किये गए किन्तु नारी के कारण भी इस काल के राजाओं ने युद्ध किया। नारी की पयोधर की कनकाभ और चूड़ियों की खनक के साथ-साथ घोड़ों की टापों से उड़ते धूल तथा चमचमाती हुई तलवारों की तेज धार की चर्चा भी खूब हुई है। नारी के सौन्दर्य का अद्भुत चित्रण, उनका नख-शिख वर्णन, विलास और वासना का अनोखा वर्णन कवियों ने भरपूर तृप्ति से किया है। इनमें प्रेम का सूक्ष्म, अशरीरी सौन्दर्य कहीं भी नजर नहीं आता। नारी के रूप में लोभ से उसे भोगने की चाह इस शृंगार काव्य में अभिव्यक्त की गई है। वीर और शृंगार जैसे विरोधी रसों को इन काव्यों ने अपनी प्रतिभा से एक नव उत्कर्षता प्रदान की है। वीर और शृंगार जैसे दो विरोधी रसों को इन काव्यों ने अपनी प्रतिभा से एक नई पहचान दिलाई है। इन दोनों भावों का उत्कर्ष दिखाने वाले उदाहरण इस प्रकार हैं :-

वीर रस -

"थकि रहे सूर कौतिक गगन, रगन मगन भई शोन धार।
हरि हरषि वीर जग्गो हुलासि, हुरेउ रंग नव रत्त वर।"

वीर रस की इन पंक्तियों से जहाँ वीरों के हृदय में युद्ध की नीति लालसा उत्पन्न गोचर होती है वहीं शृंगार का वर्णन भी इस कवि में अपनी पराकाष्ठा पर था, कवि

उदाहरण द्रष्टव्य है :-

"कुटिल केस सुदेस पोहप रचित पिनक सह।
कमल गंध, वयसंध, हंसगति चलति मंद-मंद॥
हेत वस्त्र सरीर, नष स्वाति बुन्द जस
भ्रमर भवहिं भुल्लाहिं सुगंध मकरन्द बास रस।"

(4) युद्ध वर्णन में सजीवता - इन वीरगाथात्मक रासो काव्यों में युद्धों का अत्यंत सजीव और रक्त में उबाल भरके एक नया जोश एवं उन्माद जगाने वाला वर्णन किया गया है। युद्ध कौशल और युद्ध के दृश्यों के चित्रण में ये काव्य इतने सम्पूर्ण हैं कि इस क्षेत्र में इनकी स्पर्धा करने वाले अन्य काव्य दिखाई नहीं देते। युद्धों की विभीषिका, शस्त्र-झंकार, वीरों का उत्साह, गति, तेज, ओज, रक्तपात और युद्ध कौशल का ऐसा बिम्बग्राही चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। इसका कारण यह है कि इन काव्यों के रचयिता प्रायः चारण कवि थे। ये चारण कवि कलम के सिपाही के साथ-साथ तलवार के भी धनी थे। इनकी प्रतिभा अप्रतिम थी। वे अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा करने में तो माहिर थे ही वीर काव्य के द्वारा उन्हें युद्ध में जाने की प्रेरणा भी देते थे और स्वयं भी तलवार हाथ में लेकर युद्ध भूमि में वीरता का प्रदर्शन करते थे। इस युद्धोत्साह काव्य का एक छोटा उदाहरण है:-

"बारहं बरस लौं कूकर जियै, और तेरह लौं जियै सियार।
बरस अठारह क्षत्री जीवै, आगे जीवन को धिक्कार।"

(5) संकुचित राष्ट्रीयता की भावना - रासो काव्यों के रचयिता चारण कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा की है। अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में इन्होंने उचित, अनुचित का कुछ भी विचार नहीं किया है। छोटे-छोटे राजाओं, सामंतों और छोटे-छोटे जनपद के अधिकारियों को भी उन्होंने सूर्य के तेज और प्रताप के समान प्रभावशाली एवं प्रतापी चित्रित किया है। इतिहास में जिसे जयचन्द को गद्दार कि

देशद्रोही कहा जाता है, मधुकर कवि और मंडु केदार ने उसकी प्रशंसा में जगमगांक, जसचन्द्रिका और जगचन्द प्रकाश लिखकर उसे जमीन से उठाकर आकाश में पहुँचा दिया है। उस समय राष्ट्र शब्द का अर्थ अत्यन्त सीमित और संकुचित था। कदाचित दस-पाँच गाँवों का समूह 'राष्ट्र' और आसपास का 'राष्ट्रपुरुष' की संज्ञा से विभूषित होता था। दिल्ली, कन्नौज, कालिंजर आदि भिन्न-भिन्न राष्ट्र थे और ये कवि अपनी लेखनी और अपनी वाणी के माध्यम से राजाओं को परस्पर युद्ध के लिए उकसाते रहते थे। यह देश का दुर्भाग्य ही था कि "राष्ट्र" शब्द का इतना संकुचित अर्थ ग्रहण किया गया था। यही कारण था कि विदेशी आक्रमण के समय केवल वही राजा प्रतिरोध के लिए तैयार होता था जिस पर आक्रमण किया गया हो, अन्य राजा अपने राष्ट्र को सुरक्षित मानकर शान्ति बाँधा रहता था। वह अपने पड़ोसी राजा की पराजय पर प्रसन्नता का अनुभव करता था परिणाम स्वरूप इस फूट का लाभ विदेशी आक्रान्ता पूरी तरह उठाता था। आदिकाल में इसी संकुचित राष्ट्रीयता का बोध होता है।

(6) जनता से दूर सामन्तों का साहित्य - रासो काव्य की विषय-वस्तु में सामान्य जनता की कोई भागीदारी नहीं है। इन वीर-गाथाओं में सामन्तों, राजाओं, रानिवासों और उनके आचार-विचार, व्यवहार, ऐश्वर्य एवं भोग-विलास का ही चित्रण है। सामान्य मनुष्य को इनमें कोई महत्व नहीं दिया गया है। इनमें तत्कालीन समाज की वस्तुस्थिति का लेखा-जोखा नहीं है। राजाओं और सामन्तों को तत्कालीन समाज का मुखिया तो माना जा सकता है किन्तु उनके तौर तरीकों से आम जनता के कोई ऐसे चित्र उपस्थित नहीं होते जिनसे उनकी खुशी और उनके लाभ हानि का कुछ पता चल सके। यह कहा जा सकता है कि वे 'स्वामिनः सुखिनः' की लालसा पूर्ति के लिए ही अपनी रचनाओं को लिखा करते थे।

(7) प्रकृति का सुन्दर चित्रण - इन कवि की रचनाओं में वीरता, सौन्दर्य की भावनाओं के साथ-साथ प्रकृति का भी

सुन्दर चित्रण आवश्यकतानुसार किया गया है। इन चारण कवियों ने युद्धों के अवसर पर सेनाओं के प्रस्थान मार्ग में तथा नारी के संकेत स्थलों पर प्रकृति का निकटता से अवलोकन किया है। अतः रासो काव्य में प्रकृति के आलम्बनगत तथा उद्दीपनगत चित्र बहुत व्यापक पृष्ठभूमि पर अंकित किये गये हैं। नगर, नदी वन, पर्वत, उद्यान आदि का वर्णन अत्यंत सरल तथा सुन्दर ढंग से किया गया है। यद्यपि इस प्रकृति चित्रण के नाम पर प्राकृतिक वस्तुओं की सूची मात्र दे दी गई है जिससे उसमें इतिवृत्तात्मकता और नीरसता आ गई है।

(8) काव्य रूप - रासो काव्य प्रायः दो रूपों (रूप) में प्रस्तुत किये गये। प्रबंध काव्य और मुक्तक काव्य रूप में इस काल के रासो-ग्रंथ उपलब्ध हैं। प्रबंध काव्यों की श्रेणी में खुमान रासो, हम्मीर रासो, पृथ्वीराज रासो तथा मुक्तक काव्य की श्रेणी में बीसल देव रासो, परमाल रासो आदि उल्लेखनीय हैं। आदिकाल में गद्य काव्य तथा दृश्य-काव्य का सर्वथा अभाव दिखाई देता है। परमाल रासो में वीर गीत हैं जो मुक्तक काव्य के ही अन्तर्गत आते हैं।

इसी वृत्त में घूमती थीं। अतः केवल प्रबंध और मुक्तक-काव्य रूपों का निर्वाह करना इस काल के कवियों की विवशता थी।

युद्धों तथा राजाओं के विवाह के कारण घटनाएं

(9) छन्द विधान - आदिकाल के रासो काव्यों में छन्दों का विविध मुखी प्रयोग किया गया था। इन काव्यों में वीर रस की अभिव्यंजना के लिए दूहा, तोटक, तोमर, पद्धरी और नाराच छन्दों का प्रयोग किया गया। इनमें से कुछ छन्द अपभ्रंश में भी प्रयुक्त हो रहे थे। इसी कारण कुछ विद्वान शैली की समानता के कारण रासो काव्यों को भी अपभ्रंश का काव्य समझ बैठे थे। आल्हा या वीर छन्द आदि काल में दोहा के समान ही लोकप्रिय था।

(10) कथानक रूढ़ियों का प्रयोग :- आदिकाल के रासो ग्रंथों में छन्द क्रान्ति के अतिरिक्त कथा कहने की भी कुछ शिल्प पद्धतियाँ प्रस्तुत की गई। इनमें कथानक रूढ़ियों का महत्व है रासो ग्रन्थों में इस प्रकार की कथानक रूढ़ियों का विशेष

प्रयोग मिलता है। शुक, दूती, देवी शक्तियाँ आदि इन रूढ़ियों के साधन रहे हैं। ये रूढ़ियाँ अपभ्रंश साहित्य में भी मिलती हैं। संस्कृत साहित्य भी इनसे अछूता नहीं है। अतः हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में इनका प्रयोग काव्य रचना की एक परंपरा का ही अंग है। इन रूढ़ियों में संवाद शैली महत्वपूर्ण रूढ़ि के रूप में अपनाया गया है।

(11) डिंगल और पिंगल भाषा शैली। — रासो काव्य की एक बड़ी विशेषता है कि इनमें भाषा के डिंगल और पिंगल शैली का ही प्रयोग किया गया है। तत्कालीन राजस्थानी भाषा का ही नाम डिंगल है। डिंगल भाषा वीरता ओज, पौरुष तथा तेजस्विता की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त भाषा था इसलिए राजस्थान के चारण कवियों के कथ्य और भाव के अनुरूप अपने वीर-काव्यों में डिंगल भाषा का ही प्रयोग किया। डिंगल भाषा की यह परंपरा आगे पृथ्वीराज, दुरसा, बाँकीदास, सूर्यमल्ल मिश्र, नरायण सिंह माटी तक चलती रही। वीर रस की व्यंजना के लिए डिंगल भाषा सर्वाधिक उपयुक्त एवं अनुकूलित है।

(12) 'रासो नामक' ग्रन्थों का सृजन — आदिकाल की सबसे बड़ी विशेषता रासो ग्रन्थों की रचना को माना जाता है। इस काल में रासो नामक अनेक ग्रन्थ रचे गए थे - पृथ्वीराज रासो, खुमान रासो, हम्मीर रासो, बीसलदेव रासो, परमाल रासो आदि।

'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विभिन्न मत व्यक्त किये गये हैं। गार्दा-द-तॉसी ने रासो का सम्बन्ध राजसूय यज्ञ से किया है। रासक शब्द के ध्वनि, क्रीड़ा, गर्जन, विलास आदि अनेक अर्थ होते हैं। आचार्य शुक्ल ने रसायण शब्द से इसकी व्युत्पत्ति स्वीकार की है। कुछ लोग इसे 'रहस्य' शब्द से निर्मित मानते हैं। कुछ अन्य विद्वान इस शब्द का अर्थ राजस्थान और ब्रजभाषा के 'रास' शब्द से जोड़ते हैं जिसका अर्थ लड़ाई-झगड़ा होता है किन्तु इन रासो ग्रन्थों में युद्धों के समान ही प्रेम-शृंगार का भी वर्णन किया गया है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं आदिकाल का वीरगाथात्मक काव्य अपनी विषय वस्तु, भाषा शैली, छन्द, भाव-सौन्दर्य और कवियों की दृष्टि से अलग विशेष स्थान रखता है। आदिकाल के सिद्ध नाथ और जैन कवियों ने ही सन्त काव्य की आधारशिला रखी है। इसी युग के काव्य की अनेक परंपराएँ भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल में विकसित होती रही।